भारतीय ज्ञान धरोहर

विमर्श और परंपरा

सम्पादक
डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

भारतीय ज्ञान धरोहर

विमर्श और परम्परा

सम्पादक

डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

Ph.D., D.Lit. (Sub.)

निदेशक, कॉम्पिटिशन प्लस ग्रुप ऑफ इन्स्टीट्यूशन,
अजमेर

छवि पब्लिकेशन्स

अजमेर-305001

प्रकाशक :
छवि पब्लिकेशन्स
अजमेर-305001
मो. 9660111549

संस्करण :
प्रथम 2023

ISBN : **978 - 81 - 89435 - 69 - 1**

मूल्य - 400/-

रचना - भारतीय ज्ञान धरोहर : विमर्श और परम्परा

सम्पादक - डॉ. दिनेश चन्द्र शर्मा

मुद्रक - श्रीनिवास प्रिन्टोग्राफिक्स, अजमेर

21

महर्षि दयानन्द के पत्रों में राजधर्म

पिंकी सांखला

सहायक आचार्य (शिक्षा विभाग)

हुकुमचन्द नोबेल इंस्टीट्यूट ऑफ साईंस एण्ड टेक्नोलॉजी, अजमेर

महर्षि दयानन्द ने अपने पत्रों के माध्यम से देशी राजाओं को आदर्श राजधर्म का उपदेश दिया। उन्होंने मनुस्मृति को आधार बनाकर राजा में उत्साह, विद्या, पराक्रम, बल, सत्य की खोज तथा न्यायप्रियता जैसे गुणों के विकास पर जोर दिया।

महाराणा सज्जन सिंह (उदयपुर) उनके सर्वाधिक प्रिय और योग्य शिष्य-राजा माने गए। स्वामी जी और महाराणा का प्रथम परिचय 1881 में हुआ, जिसके बाद स्वामी जी ने उन्हें मनु-आधारित राजधर्म, सत्य-असत्य का विवेक और धर्म-अधर्म के ज्ञान की शिक्षा दी।

स्वामी दयानन्द ने पत्रों, उपदेशों और ग्रन्थों के माध्यम से राज्य संचालन, प्रजा-कल्याण, धर्मपालन और नीतिपूर्ण शासन के विषय में स्पष्ट दिशानिर्देश दिए। महाराणा सज्जन सिंह उनकी शिक्षाओं से अत्यंत प्रभावित हुए और स्वामी जी को उनके राजधर्म संबंधी विचारों पर पूर्ण विश्वास था।

स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेद और अपने पूना प्रवचन (8वाँ) के आधार पर राज्य की उत्पत्ति को मनुष्य के सामाजिक उद्देश्यों से जोड़ा। उनके अनुसार मानव-सृष्टि के कुछ काल बाद समाज दो वर्गों—आर्य और दस्यु में विभक्त हुआ। समाज में व्यवस्था बनाए रखने के लिए प्रतिबन्ध, नियम और अनुशासन आवश्यक हुए, जिन्हें उन्होंने मनु की राजव्यवस्था के अनुरूप स्वीकार किया।

स्वामी दयानन्द ने राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धान्त का स्पष्ट विरोध किया। महाभारत काल में जहाँ राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि माना गया, वहीं दयानन्द ने राजा को जनता का प्रतिनिधि घोषित किया।

उन्होंने अपने पत्रों के माध्यम से जोधपुर के महाराजाधिराज, उदयपुर के महाराणा सज्जन सिंह और शाहपुराधीश को यह समझाया कि राजा दिव्य सत्ता नहीं, बल्कि जन-उत्थान और जन-कल्याण के लिए नियुक्त जनप्रतिनिधि है।

स्वामी दयानन्द के अनुसार राज्य और जनता का संबंध एक-दूसरे पर आधारित,

परस्पर नियंत्रित एवं संतुलित व्यवस्था का रूप है। उन्होंने वैदिक परंपरा का हवाला देते हुए बताया कि सभापति सभा के अधीन, सभा राजा के अधीन, और राजा तथा सभा प्रजा के अधीन रहते हैं। इसका अर्थ यह है कि शासन-संरचना में कोई भी तत्व पूर्णतः स्वतंत्र या निरंकुश नहीं है। सभी एक-दूसरे पर निर्भर और उत्तरदायी हैं।

स्वामी दयानन्द ने राजा और प्रजा के बीच पिता-पुत्र जैसा मधुर, रक्षणकारी और स्नेहपूर्ण संबंध स्थापित करने की बात कही। उनके अनुसार यदि यह संबंध बना रहे तो राज्य में शोषण, अत्याचार या सत्ता का दुरुपयोग संभव नहीं होता। शासक वर्ग जनता का पोषक रहेगा और जनता राजा का सम्मान करेगी।

उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि राज्य का सर्वोच्च अधिकार जनता के पास होना चाहिए। स्वामी जी ने वैदिक पद्धति को आधार बनाकर बताया कि राजा पद पर जन्म से नहीं, बल्कि निर्वाचन द्वारा पहुँचता है। जन-प्रतिनिधियों के अधिकार होते हैं कि वे योग्य व्यक्ति को राजा चुनें। यदि कोई राजा या सभाध्यक्ष निरंकुश, अत्याचारी या अधर्मयुक्त हो जाए तो जनता को यह अधिकार होना चाहिए कि वह उसे पदच्युत कर सके।

यजुर्वेद के 8वें अध्याय, 23वें मंत्र की व्याख्या करते हुए स्वामी दयानन्द ने लिखा कि राजा और प्रजा दोनों को धर्म के मार्ग पर चलना चाहिए। यदि कोई राजा अपराध करे तो प्रजा उसे दण्ड दे सकती है, और यदि प्रजा अधर्म करे तो राजा उसे दण्ड देने का अधिकारी है। यह व्यवस्था राज्य में संतुलन, न्याय और पारस्परिक नियंत्रण बनाए रखने के लिए आवश्यक है।

राजव्यवस्था :- पूना प्रवचन में भी स्वामी जी ने यही विचार विस्तृत रूप में व्यक्त किए कि राज्य-व्यवस्था तभी आदर्श कही जा सकती है जब जनता सचेत, राजा धर्मनिष्ठ, और दोनों के बीच परस्पर दण्ड-अधिकार तथा उत्तरदायी संबंध मौजूद हों।

इस प्रकार स्वामी दयानन्द का राज्य-जनता संबंध संबंध लोकतांत्रिक, उत्तरदायी, नैतिक और संतुलित वैदिक शासन-व्यवस्था पर आधारित था।

स्वामी दयानन्द ने भले ही अपने पत्रों में 'राष्ट्रपति' शब्द का प्रयोग नहीं किया, लेकिन उनके वैदिक राजनीतिक चिंतन से स्पष्ट होता है कि वे ऐसे सर्वोच्च राज्याध्यक्ष की कल्पना करते थे, जिसका चयन विद्वानों, धर्माचार्यों और अनुभवी राजपुरुषों की सम्मिलित सहमति से हो। सत्यार्थ प्रकाश और यजुर्वेद की उनकी व्याख्या इस बात की ओर संकेत करती है कि सर्वोच्च पद पर वही व्यक्ति बैठना चाहिए जो विद्या, धर्म और राजनीतिक बुद्धि—तीनों में श्रेष्ठ हो तथा जिसके चयन में व्यक्तिगत

इच्छा नहीं, बल्कि सामूहिक निर्णय प्रमुख हो।

राज्याधिकारी की योग्यता :- उन्होंने सर्वोच्च राज्याधिकारी की योग्यता को अत्यन्त उच्च आदर्शों से जोड़ा। उनके अनुसार राज्याध्यक्ष तेज, प्रभाव और चरित्र में सूर्य और वायु के समान बलवान, धर्म का प्रकाश बढ़ाने वाला, इन्द्रिय-वश में रखने वाला तथा वेदों का ज्ञाता होना चाहिए। वह उत्साही, संयमी और सभी प्रकार के व्यसनों से दूर रहने वाला व्यक्ति होना चाहिए, ताकि उसका नेतृत्व राजनीतिक क्षमता के साथ-साथ नैतिक दृढ़ता का भी प्रतीक बने।

दिनचर्या :- स्वामी दयानन्द ने राजा की दिनचर्या को भी आदर्श रूप में प्रस्तुत किया। उनके अनुसार सर्वोच्च अधिकारी को रात्रि के अंतिम प्रहर में उठकर स्नान-ध्यान और अग्निहोत्र करना चाहिए, उसके बाद सभा में जाकर प्रजाजनों को सम्मान देते हुए मंत्रियों के साथ राज्यकार्य का विचार करना चाहिए। उन्होंने जोधपुर महाराजा को लिखे पत्र में भोजन, विश्राम, कार्य के घंटों तथा योगाभ्यास के संबंध में भी स्पष्ट निर्देश दिए, जिनका उद्देश्य राजा को अनुशासित, जागरूक और प्रजाहितकारी बनाना था।

इस प्रकार स्वामी दयानन्द की परिकल्पना में सर्वोच्च राज्याध्यक्ष वह व्यक्ति है जो विद्वानों द्वारा चयनित, चरित्रवान, संयमी, धर्मनिष्ठ तथा प्रजा-कल्याण के प्रति पूर्णतः समर्पित हो।

संसद की परिकल्पना :- स्वामी दयानन्द ने उस समय, जब विश्व की शासन-प्रणालियों में व्यक्ति-प्रधान और निरंकुश राजसत्ता का प्रभाव था, वैदिक परम्परा के आधार पर तीन प्रकार की संसदों की कल्पना प्रस्तुत की। ब्रिटिश शासन के कठोर समय में, जब भारत वायसराय के अधीन था और जनता का कोई अधिकार नहीं था, दयानन्द ने ऋग्वेद के आधार पर यह क्रान्तिकारी घोषणा की कि राज्य-व्यवस्था व्यक्ति के बजाय संस्थाओं पर आधारित होनी चाहिए। उन्होंने तीन संसदें निर्मित मानी—विद्या आर्य सभा, धर्म आर्य सभा और राज आर्य सभा। विद्या आर्य सभा का उद्देश्य राष्ट्र में शिक्षा का नियमन और प्रसार है, धर्म आर्य सभा न्याय और नैतिकता की रक्षा करती है, जबकि राज आर्य सभा प्रशासन और शासन के संचालन की दिशाएँ निर्धारित करती है।

स्वामी दयानन्द ने इन संसदों की संरचना और कार्यप्रणाली को भी स्पष्ट किया। उनके अनुसार सभा (राजकीय कार्यप्रणाली से जुड़ी उच्च संस्था) और समिति (विशेषज्ञों एवं परामर्शदाताओं की संस्था) दोनों की स्थिति भिन्न होनी चाहिए, परन्तु उनके बीच उपयुक्त तालमेल और संवैधानिक सम्बन्ध बना रहना चाहिए। इससे शासन-

व्यवस्था में न तो अराजकता हो और न ही निरंकुशता।

सांसदों की योग्यता भी दयानन्द ने अत्यन्त उच्च स्तर की निर्धारित की। उनके अनुसार सांसद वेदों का ज्ञाता हो, स्मृतियों का अध्ययन करे, दण्डनीति, न्यायशास्त्र और आत्मविद्या में निपुण हो तथा योगाभ्यास द्वारा अपनी इन्द्रियों पर नियंत्रण रखने वाला हो। इसका सीधा अर्थ यह था कि सांसद केवल जनप्रतिनिधि न हों, बल्कि चरित्र, विद्या और संयम के आदर्श हों, क्योंकि अच्छे सांसद ही स्वस्थ संविधान का निर्माण कर सकते हैं।

सम्प्रभुता के विषय में स्वामी दयानन्द स्पष्ट रूप से जनतान्त्रिक विचारधारा के समर्थक थे। वे संवैधानिक राज्याध्यक्ष को स्वीकार करते थे और इस बात पर जोर देते थे कि संविधान चरित्रवान और निर्भीक सांसदों द्वारा बनाया जाए। *सत्यार्थ प्रकाश* में उन्होंने कहा कि जिस राष्ट्र का संविधान नैतिकता, सत्य, शक्ति और तेज से परिपूर्ण होगा, उसमें बाहरी शत्रु हस्तक्षेप करने का साहस नहीं कर सकेंगे। सम्प्रभुता के लिए उन्होंने जो गुण बताए उनमें पक्षपातहीनता, नैतिक बल, विद्युत समान शक्ति, और राष्ट्र के तेज—ब्रह्मवर्चस एवं यश की वृद्धि—विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं।

निर्वाचन :- स्वामी दयानन्द ने ऐसी निर्वाचन प्रणाली का समर्थन किया जिसमें प्रतिनिधि चुनने का पूरा अधिकार जनता के पास हो। उन्होंने राजनीतिक दलों द्वारा मनोनीत व्यक्तियों को चुनने की मजबूरी का विरोध किया। उनके अनुसार जनता केवल उन्हीं लोगों को विधान सभा में भेजे जो शिक्षित, चरित्रवान और योग्य हों, क्योंकि अयोग्य व्यक्तियों का बहुमत भी सही निर्णय नहीं कर सकता। इसी कारण उन्होंने बहुमत-आधारित पाश्चात्य सिद्धांत को अस्वीकार किया, जिसे महात्मा गांधी और दार्शनिक थोरो ने भी सही नहीं माना।

मंत्रियों की संख्या एवं गुण :- स्वामी दयानन्द योग्य और चरित्रवान मंत्रियों को राष्ट्र-शासन की मजबूती का आधार मानते थे। इसी भावना से उन्होंने 1883 में शाहपुरा जैसी छोटी रियासत के लिए अंत: मंत्री और अन्य अधिकारी चुनने हेतु एक विज्ञापन जारी किया। उनका मानना था कि छोटा राज्य चलाने में निपुण व्यक्ति आगे चलकर बड़े राज्य का शासन भी कुशलतापूर्वक संभाल सकता है। शासन का उद्देश्य स्वार्थ नहीं, बल्कि राष्ट्रसेवा होना चाहिए।

महर्षि दयानन्द स्पष्ट कहते हैं कि कोई भी सुधार तभी स्थायी हो सकता है जब वह वेदों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों पर आधारित हो।

स्वामी दयानन्द ने वेदानुकूल मनुस्मृति के सिद्धांतों के आधार पर शाहपुरा नरेश को शासन-प्रबंधन की शिक्षा दी। उन्होंने पत्रों में स्पष्ट बताया कि राजा के दो मुख्य

कर्तव्य हैं—उत्तम कार्य करने वालों को पारितोषिक देना और उपेक्षा या कर्तव्य-विमुखता करने वालों को दण्ड देना। यह निर्देश विशेष रूप से उस घटना के संदर्भ में लिखा गया था जब स्वामी दयानन्द शाहपुरा से विदा होकर अजमेर लौट रहे थे और मार्ग में शाहपुरा राज्य के सेवकों द्वारा उपेक्षा के कारण उन्हें तथा उनके साथियों को कष्ट उठाना पड़ा।

यात्रा के दौरान दूसरी चौकी से भेजे गए सवार ने घोड़े छोड़कर अपने घर का रास्ता पकड़ लिया और मसालची भी शाहपुरा में ही कहीं छिपा रहा—जिससे स्वामीजी की यात्रा व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई। यदि ये दोनों साथ होते, तो जो कठिनाई उन्हें झेलनी पड़ी, वह नहीं आती।

आगे घट्टा से रूपाहेली के पास भोजरांस गांव पहुँचने से पहले तेज आंधी-तूफान व वर्षा के कारण वे एक घंटे तक भीगते रहे। बाद में ठाकुर रूपाहेली ने भोजन, विश्राम और घोड़ों की उत्तम व्यवस्था की और अगले दिन स्वामीजी रूपाहेली स्टेशन पहुँचे। किंतु बर्ल (विजयनगर) स्टेशन पर न कोई सिपाही था, न गाड़ीवान इस उपेक्षा से बाध्य होकर उन्होंने तार भेजकर रेल द्वारा ही अजमेर पहुंचने की व्यवस्था की।

इस विवरण के माध्यम से स्वामी दयानन्द ने स्पष्ट किया कि राज्य व्यवस्था तभी सुचारु चल सकती है जब राजा अपने कर्मचारियों की जिम्मेदारी, अनुशासन और कार्यपालन पर दृढ़तापूर्वक ध्यान दे।

सम्मान :- स्वामी दयानन्द ने स्पष्ट किया कि —अच्छे कार्य करने वालों को सम्मान मिले और उपेक्षा करने वालों को दण्ड। यात्रा के समय वे चार सिपाहियों को उपहार देना चाहते थे, पर दे नहीं सके। यह बात उन्होंने पत्र द्वारा शाहपुरा नरेश को बताई। नरेश ने उत्तर दिया कि उपेक्षा करने वाले मसालची और सवार को दण्ड दे दिया गया है तथा जिन सिपाहियों को इनाम मिलना था, उन्हें इनाम दे दिया गया है।

महर्षि का दृष्टिकोण केवल दण्ड-इनाम तक सीमित नहीं था; वे राज्य की कृषि, वाणिज्य और गौ-संरक्षण नीतियों पर भी ध्यान देते थे। नहर निर्माण पर लिखे एक पत्र में उन्होंने इसकी चौड़ाई-गहराई का सही वैज्ञानिक स्वरूप सुझाया, जिससे कृषि को अधिक लाभ पहुँच सके।

राजधर्म सिद्धान्त :- स्वामी दयानन्द के राजधर्म के सिद्धान्तों का शाहपुरा नरेश ने व्यावहारिक रूप में अनुपालन किया, विशेषत: कृषि, व्यापार और गौ-संरक्षण के क्षेत्र में। महर्षि के सुझावों के आधार पर कृषि सुधारों को प्राथमिकता दी गई, जिसके परिणामस्वरूप नाहर सागर और उम्मेद सागर जैसे दो बड़े बाँध निर्मित हुए।

इनसे सिंचाई बढ़ी, अन्नोत्पादन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई और शाहपुरा व्यापारिक दृष्टि से सम्पन्न क्षेत्र बन गया। राज्य कोष मजबूत हुआ, प्रजा समृद्ध हुई और बाधाओं को दूर करने का निरंतर प्रयास चला।

इसी समृद्धि के चलते विद्यालय भवन, दयानन्द आश्रम, जीवन विलास, उम्मेद निवास, नाहर निवास, कांच महल और कृषि विद्यालय जैसे अनेक निर्माण कार्य सम्पन्न हुए। रामस्नेही सम्प्रदाय के विशाल मेले के समय पूरे माह चुंगी निरस्त करने से व्यापार बढ़ा और बाहरी व्यापारियों को सुविधा मिली, जिससे राज्य को लाभ पहुँचा।

गौरक्षा के लिए पशुपति नाथ गौशाला स्थापित की गई और 210 बीघा भूमि चरागाह तथा आय के स्रोत के रूप में प्रदान की गई।

इन सभी कार्यों से स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द केवल मंत्रियों की संख्या और योग्यताओं पर ही नहीं, बल्कि उनके व्यावहारिक आचरण, नीतिगत दृष्टि और जनकल्याणकारी उपायों को भी राजधर्म का आवश्यक अंग मानते थे।

दण्ड एवं युद्ध नीति :- स्वामी दयानन्द ने राजधर्म के अंतर्गत दण्ड, कर और युद्ध—तीनों नीतियों को धर्म, न्याय और जनकल्याण पर आधारित होना आवश्यक माना।

उन्होंने मनुस्मृति के आधार पर दण्ड व्यवस्था का समर्थन किया, जिसमें दण्ड का उद्देश्य प्रतिशोध नहीं, बल्कि अपराधी का सुधार और समाज की रक्षा माना गया। कर नीति के संबंध में उनका स्पष्ट मत था कि धन वही धार्मिक है जो धर्मपूर्वक प्राप्त हो। इसलिए कर-संग्रह प्रजा के लिए पीड़ादायक न हो। उन्होंने आय-व्यय का सुव्यवस्थित वैदिक अनुपात भी बताया—आय का दशमांश न्याय और शिक्षा पर, तथा शेष नौ अंशों में से दो स्थिर कोष, दो राजकुल पर, तीन सेना पर और एक कृषि व शिल्प-वर्धन में लगाया जाए।

युद्ध नीति भी पूरी तरह नैतिक आधार पर थी। यद्यपि उन्होंने सभी से प्रेमपूर्ण व्यवहार का सिद्धान्त दिया, परंतु ऋग्वेद के आधार पर बलवान सेना आवश्यक कही ताकि दुष्ट पड़ोसियों से देश की रक्षा हो सके। उनके अनुसार युद्ध का उद्देश्य विस्तार नहीं, बल्कि अन्याय और अत्याचार का अंत है, इसलिए जब राष्ट्र-सुरक्षा हेतु आवश्यक हो तभी युद्ध अपरिहार्य बनता है।

विकेन्द्रीकरण :- स्वामी दयानन्द के राजनीतिक विचारों में 'विकेन्द्रीयकरण' एक अत्यंत महत्वपूर्ण सिद्धान्त था। वे मानते थे कि शासन तभी प्रभावी और न्यायपूर्ण बन सकता है जब अधिकार केवल शीर्ष पर केन्द्रित न होकर नीचे तक—ग्राम और

नगर स्तर तक—वितरित हों। इसी कारण उन्होंने आर्यसमाज और परोपकारिणी सभा के नियमों में भी विकेन्द्रीय व्यवस्था को स्थान दिया।

ग्राम स्तर पर उन्होंने ग्राम पंचायतों को सशक्त बनाकर स्थानीय समस्याओं का समाधान स्थानीय स्तर पर करने की व्यवस्था का समर्थन किया। नगर व्यवस्था के लिए उन्होंने 'नागरिक परिषदों' को आवश्यक माना, ताकि नगर प्रशासन अधिक उत्तरदायी और जनसुलभ बने।

विदेश नीति के क्षेत्र में भी उन्होंने संतुलन और विवेक पर बल दिया। पड़ोसी राष्ट्रों के साथ संबंध 'मित्रभाव' पर आधारित हों, परंतु बिना सोचे-समझे किसी के प्रभाव में न फंसें। यह राजा और सभाध्यक्ष दोनों का कर्तव्य बताया। मित्र वे राष्ट्र माने गए जिनकी नीति समान और सद्भावपूर्ण हो। सभा अध्यक्ष को यह ध्यान रखना चाहिए कि विदेशी मित्रता, शत्रुता और उदासीनता तीनों का मूल्यांकन नीति और राष्ट्रहित के आधार पर हो, न कि मोह या भ्रम के आधार पर।

विश्व संघ की कल्पना :- स्वामी दयानन्द की चक्रवर्ती राज्य या विश्व-संघ की कल्पना एक अत्यन्त सुव्यवस्थित और क्रमबद्ध वैश्विक शासन-प्रणाली पर आधारित थी। उनका मानना था कि संसार में शांति, न्याय और समन्वय तभी स्थापित हो सकता है जब शासन नीचे से ऊपर तक सुचारु रूप से जुड़ा हो और प्रत्येक स्तर पर उत्तरदायित्व सुनिश्चित हो।

उन्होंने सबसे पहले ग्राम स्तर से व्यवस्था की शुरुआत मानी। बीस ग्रामों पर एक अधिपति हो, और वह अपने क्षेत्र की समस्त स्थिति प्रतिदिन उच्चतर अधिकारी को निवेदन करे। ऐसे बीस ग्रामाधिपतियों का विवरण एकत्र होकर सौ ग्रामाधिपति तक पहुँचे। सौ-सौ ग्रामों से आगे प्रतिवेदन सहस्त्राधिपति तक जाए। फिर सहस्त्रों ग्रामों के अधिपतियों की सूचनाएँ लक्ष्य ब्राह्मणों की राजसभा तक प्रस्तुत की जाएँ। यह राजसभा, जो ज्ञान, धर्म और नीति से युक्त हो, महाराजा सभा के सामने प्रतिदिन समस्त भू-भाग का वर्तमान रखे। अंत में यही महाराजा सभा चक्रवर्ती महाराज अर्थात् विश्व के सर्वोच्च सार्वभौम को सभी जानकारी प्रसारित करे।

इस प्रकार गाँव से लेकर वैश्विक केंद्र तक शासन की सीढ़ियाँ एक-दूसरे से जुड़ी हुई रहती हैं। दयानन्द की यह कल्पना वास्तव में एक ऐसे विश्व-संघ की थी जहाँ शासन के हर स्तर पर संवाद, उत्तरदायित्व और समन्वय बना रहे। यह विचार आधुनिक अंतरराष्ट्रीय संगठनों और विश्व संघ की अवधारणाओं की वैदिक और दार्शनिक पूर्वपीठिका के समान है।

निष्कर्षतः राजधर्म का मूल उद्देश्य लोककल्याण, न्याय, सुरक्षा और समाज

का संतुलित संचालन है। प्राचीन ग्रन्थों से लेकर दार्शनिक परम्पराओं और स्वामी दयानन्द की व्यवस्थाओं तक, सत्ता को व्यक्तिगत लाभ नहीं बल्कि प्रजा की सेवा का माध्यम माना गया। योग्य, नैतिक, पारदर्शी और उत्तरदायी शासन ही आदर्श राजधर्म है, जहाँ निर्णय धर्म, सत्य, समानता और जनहित के आधार पर लिए जाते हैं, और समग्र विश्व को भी एक न्यायपूर्ण, सुव्यवस्थित परिवार (वसुधैव कुटुम्बकम्) की तरह संचालित करने की कल्पना की जाती है।

❖❖❖